

## श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ की भूमिका (वैश्विक एवं समकालीन परिप्रेक्ष्य में)

सतीश चन्द्र कैवर्त

शोधछात्र ,

फिलॉसफी डिपार्टमेंट

डी.एस.वी.वी. गायत्रीकुंज-शांतिकुंज हरिद्वार

डा. कृष्णा झरे

दर्शनशास्त्र विभाग, देव संस्कृति विश्वविद्यालय शांतिकुंज हरिद्वार, उत्तराखंड

### सारांश -

समस्त भारत वर्ष की सोये हुए प्रसुप्त अंतरात्मा को पुनर्जागरण हेतु ज्ञान एवं विज्ञान की प्रतिष्ठापना करना अतिआवश्यक है। ज्ञान एवं विज्ञान के बल पर ही कोई व्यक्ति या राष्ट्र उन्नति कर सकता है। इन दोनों में एक की कमी हो तो अधःपतन आरंभ हो जाता है। ज्ञान और विज्ञान का सर्वश्रेष्ठ एवं उत्तम कार्य यज्ञ में ही सन्निहित है। आत्मसाक्षात्कार, स्वर्ग का सुख साधन, बंधन एवं मुक्ति, मन की शुद्धि, पाप संताप एवं प्रायश्चित्त कर्म, आत्मबल, मनोबल, शरीरबल, इच्छाशक्ति, समग्र स्वास्थ्यवर्धक, आत्मोन्नति, ऋद्धि-सिद्धि के केन्द्र भी यज्ञ ही थे। यज्ञीय जीवन जीकर किए गये कर्मों वाला जीवन ही श्रेष्ठतम जीवन है।<sup>3</sup> आत्मस्वरूप यज्ञ - इसके अनुसार गीताकार का आशय है- परमात्मा में ज्ञान द्वारा एकीभाव से स्थित होकर ब्रह्मरूप अग्नि में यजन करना। अर्थात् "ब्रह्माग्नि " में जीवात्मा हविस्य के रूप में आहुति देना ही ज्ञानयज्ञ कहलाता है।<sup>4</sup>

आध्यात्मिक यज्ञीय ज्ञान का अर्थ है विद्या, बुद्धिमत्ता, विवेक, दूरदर्शिता, सद्भावना, उदारता और न्यायप्रियता जैसे गुणों का समन्वित रूप। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आध्यात्मिक यज्ञ के अन्तर्गत देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, आत्मयज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणयज्ञ, संयमयज्ञ, आहारयज्ञ आदि की चर्चा करते हुये यह बताया गया है कि आत्मकल्याण व प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए जो भी सत्साधन कार्य में लाए जाते हैं, वे सब यज्ञरूपी ही हैं।<sup>5</sup>(गीता 4/25-30)

**आचार्य श्री के अनुसार -** यह परमार्थप्रियता , परस्पर सहयोग, सद्भावना की वृत्ति, संयम, त्याग, उदारता, धर्मप्रियता, आस्तिकता एवं ईश्वर उपासना की भावना ही यज्ञ का वास्तविक रहस्य है।<sup>6</sup>



श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार - सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थों को अपना और अपने लिए न मानकर केवल भगवान के लिए ही मानना “भगवद्दर्पणरूप यज्ञ” है। परमात्मा की सत्ता में अपनी सत्तामिला देना अर्थात् ‘मैं’ - पन को मिटा देना “अभिन्नता रूप यज्ञ” है।<sup>7</sup>

कूटशब्द - ज्ञानयज्ञ, यज्ञीय जीवन, यज्ञ, कर्म, मुक्ति, आत्मशुद्धि, भगवद्गीता, श्रीमद्भगवद्गीता।

## 1. प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति है, देव संस्कृति है, यज्ञीय संस्कृति है। हम कहीं से भी आरम्भ करें, ईश्वर तक, संस्कृति के केंद्र तक सीधे जा पहुँचते हैं। हमारे संस्कृति के पुरोधा कहते हैं- **परहित सरिस धर्म नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई।**

गीता की यज्ञसंबंधी परिकल्पना का वर्णन दो अलग-अलग स्थलों में हुआ है; एक तीसरे अध्याय में और दूसरा चौथे अध्याय में; पहला वर्णन ऐसा है कि यदि हम उसीको देखें तो ऐसा मालूम होगा कि गीता केवल आनुष्ठानिक यज्ञ की बात कह रही है; दूसरा वर्णन उसीको बहुत व्यापक दार्शनिक अर्थ का प्रतीक बनाता है और इस प्रकार उसका अभिप्राय ही एकदम बदलकर उसे आंतरिक और आध्यात्मिक सत्य के एक ऊँचे क्षेत्र में ला बैठाता है।<sup>1</sup>

भारतीय संस्कृति में 'यज्ञ' को भारतीय दर्शन का पिता और 'गायत्री' को माता माना गया है। जब ये दोनों शक्तियाँ एक साथ मिलती हैं, तो समाज में एक नव-चेतना का संचार होता है। 'यज्ञ' का व्यापक अर्थ है— त्याग, सहयोग और सत्कर्म। 'गायत्री' का व्यापक अर्थ है—सद्ज्ञान।

हमारे कर्मों से हमारे समाज की, राष्ट्र की प्रगति हो, उन्नति हो, उत्कर्ष हो, यह लक्ष्य हो तो हमारा जीवन यज्ञमय है। वस्तुतः कर्म एक प्रवाह है, जिसमें जिंदगी की सारी शक्तियाँ प्रवाहित होती रहती हैं। हमारे कर्म राष्ट्र रूपी शरीर की शिराएँ हैं। ज्ञान एक छोर से दूसरे तक, विभूति-विद्या-अर्थ रुके नहीं, अवरूद्ध न हों, समाज के निचले तबके से शिखर तक पहुँचे, परस्पर तालमेल विकसित हो, **यही समाज यज्ञ राष्ट्र यज्ञ है।** बौद्धिक सम्पदा मात्र शहरों तक सीमित न रहे, गाँव-गाँव तक, जन-जन तक पहुँचे। ऋषियों के जीवनकाल की व्यवस्था की पुनरावृत्ति हो। इसके लिए प्रवाह का एक तंत्र बने। इसी का नाम है यज्ञ।<sup>2</sup>

यज्ञ या अग्निहोत्र भारतीय संस्कृति का एक विशेष प्रतीकात्मक शब्द है। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति एक नियत स्थान पर दृढ़ जमकर खड़ा हुआ, नियत कार्य में श्रम लगाता हुआ, एक वस्तु को को आगे



सरका देता है। यही वास्तव में यज्ञ कार्य है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१४१६) ने उद्घोष किया "यज्ञोदय सर्व कामधुक्" । यज्ञ से सभी की कामनायें पूर्ण होती हैं।<sup>3</sup>

## 2. यज्ञ का व्यापक स्वरूप:

यज्ञीय जीवन सहकार व सह-अस्तित्व के मूल्यों से युक्त एक सतत प्रवहमान अवस्था है, जिसमें हर क्षण कर्म व्यक्त व विलीन होते हैं।

ईश्वरीय दिव्य शक्तियों की आराधना, उनकी समीपता-संगति तथा अपनी समझी जाने वाली वस्तुओं को उनके अर्पण करना, यह यज्ञ की आध्यात्मिक प्रक्रिया है।

“यज्ञ” धातु से निष्पन्न यज्ञ शब्द के तीन अर्थ हैं (१) देवपूजन (२) संगति-करण (३) दान। इन तीनों ही प्रवृत्तियों को व्यक्ति और समाज के उत्कर्ष की दिव्य धाराएँ कहा जा सकता है।<sup>4</sup>

- देवपूजन का अर्थ है- परिष्कृत व्यक्तित्व-देवी सद्गुणों का अनुगमन ।<sup>5</sup>
- संगतिकरण अर्थात् एकता सहकारिता संघबद्धता। आत्मवत् सर्व भूतेषु, वसुधैव कुटुम्बकम्,<sup>6</sup>
- दान अर्थात् समाज परायणता, विश्व कौटिम्बिकता, उदार सहृदयता।<sup>7</sup>

**श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार** - सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थों को अपना और अपने लिए न मानकर केवल भगवान के लिए ही मानना “भगवद्दर्पणरूप यज्ञ” है। परमात्मा की सत्ता में अपनी सत्तामिला देना अर्थात् ‘मैं’ - पन को मिटा देना “अभिन्नता रूप यज्ञ” है।<sup>8</sup>

**ऋग्वेद** के प्रथम मंत्र यज्ञीय ज्ञान के सम्बन्ध में यह स्मरण दिलाता है -

**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ १.१.१**

**ऋग्वेद, मंडल १ (मधुच्छंदा वैश्वामित्र सूक्त १)**

मैं उन 'ज्वाला' को, उन पुरोहित को, उन 'यज्ञ' के दिव्य 'ऋत्विक्' को पूजता हूँ, वे आह्वानकर्ता जो पूर्ण रूप से परमानंद की स्थापना करते हैं।<sup>9</sup>

**आचार्य पंडित श्रीराम शर्मा** अखण्ड ज्योति पत्रिका में लिखते हैं- "जिस तरह अग्नि यज्ञ कुण्ड में प्रज्ज्वलित होती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि अंतःकरण में तपाग्नि इन्द्रियों में तथा कर्माग्नि देह में प्रज्ज्वलित रहनी चाहिए, यही यज्ञ का आध्यात्मिक स्वरूप है। अपनी संकीर्णता, अहंता, स्वार्थपरता को जो इस दिव्य अग्नि में होम देता है, वह बदले में इतना प्राप्त करता है, जिससे नर को नारायण की पदवी मिल सके।"<sup>10</sup> (अप्रैल १९८१ पृष्ठ ४९)।



इसी क्रम में यज्ञ को विश्व का सर्वोत्कृष्ट दर्शन बताते हुए लिखते हैं-" यज्ञ में समाहित विचार एवं प्रेरणाएँ आस्था परिशोधन एवं आदर्शों की प्रतिष्ठापना का एक सशक्त माध्यम हैं। इसमें सन्निहित विचार प्रवाह में मनुष्य को श्रेष्ठ, उदार एवं उदात्त बनाने के सारे तत्व विद्यमान हैं। ऐसे किसी दर्शन की खोज करनी हो जो विवादों से रहित एवं बोधगम्य हो तो वह यज्ञदर्शन ही हो सकता है।"<sup>11</sup> (अखण्ड ज्योति, सितम्बर १९८१, पृष्ठ ४७)।

इसीलिये शास्त्र कहता है- **"महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।"**

यज्ञों में भी श्रेष्ठतम एवं महायज्ञ कहा जाने वाला वह कर्म है जो व्यक्ति को ब्राह्मणत्व के पद पर अधिष्ठित कर देता, उसके जीवन को ब्राह्मण प्रधान कर देता है। ब्राह्मणत्व अर्थात् आज के तथाकथित मनुवाद के नाम पर आलोचना करने वाले जाति-वर्ण वाला ब्राह्मण नहीं-ज्ञान का संपादन करने वाला-देवताओं की रीति-नीति वाला जीवन जीने वाला। इसी चौथे अध्याय की प्रारंभिक टिप्पणियों में गुण कर्म विभागानुसार चार वर्षों के रचने की चर्चा (श्लोक क्रमांक-१३) भगवान् ने की है। यदि वह हम समझ लें तो हमें यज्ञ-महायज्ञ का सही मर्म भी समझ में आ सकेगा।<sup>12</sup>

इसके पूर्व तीसवें श्लोक तक विचित्र यज्ञों के माध्यम से यज्ञ का मर्म बताते बताते यहाँ इक्तीसवें श्लोक में उपरोक्त कथा का सार इस तरह कह देते हैं-"यज्ञ से बचे अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।" मानव जाति की समाज की सेवा स्वरूप किया गया श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है। **(यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म)** <sup>13</sup>

इसके परिणाम स्वरूप जो आत्मसंतोष-कीर्ति-ऐश्वर्य आदि प्राप्त होता है, वह यज्ञ-अवशिष्ट है। यही "प्रसाद" कहलाता है जो विभिन्न प्रकार के पूर्व में बताए गए बारह प्रकार के यज्ञों की परिणति स्वरूप प्राप्त होता है। शर्त एक ही है कि यह सभी यज्ञ **निष्काम भाव** से किये जाएँ। **" यज्ञावशिष्ट" या "प्रसाद"** का अर्थ है वह पदार्थ या तत्व जो **मानसिक शांति दे, तृप्ति दे, तुष्टि दे।** उस तरह यज्ञमय जीवन हमारी सभी वासनाओं का क्षय कर मन को अनिर्वचनीय शांति से भर देता है। वह शान्ति जिसकी खोज में आज सारा विश्व है, इसी यज्ञमय जीवन की रीति-नीति से मिलती है। वासनाओं का क्षय होते ही अंतिम परिणति के रूप में हमें समष्टिगत चैतन्य से एकाकार होने की सिद्धि भी (ब्रह्म सनातनम्) मिल जाती है।<sup>14</sup>

भगवान् आगे कहते हैं कि हे कुरुओं में श्रेष्ठ ! यज्ञ न करने वाले के लिये तो यह लोक भी न होने के समान है **(नायं लोकोऽस्त्यज्ञस्य)** तब परलोक की बात की क्या कही जाय ? **(कुतोऽन्यः)**। इस एक पंक्ति में बड़े ही मर्म की बात बता दी गयी है। एक ही सार्वभौमिक सत्य का उद्घाटन किया गया है कि जो व्यक्ति समर्पण भाव से (यज्ञीय भाव से) कर्म करने को तैयार नहीं, उसे न तो इस संसार में वास्तविक लाभ है, (संतोषमय जीवन-प्रसन्नता अथवा तृप्ति मिल पाती है) न ही मरने के बाद वह शांति पाता है।



वास्तविक प्रसन्नता- सफल जीवन जीने की अनुभूति की एक ही कुंजी है-यज्ञभाव में रहकर उद्यमपूर्वक सतत कर्म करते रहना (कुर्वन्नेवेह कर्माणि)।<sup>15</sup>

### 3. यज्ञ का वैश्विक एवं समकालीन स्वरूप - यज्ञमय जीवन की प्रासंगिकता

जिस समाज या राष्ट्र में युवाशक्ति-भोग में डूबे आम आदमी, विषयी विलासी-विचारहीन-स्वार्थी-इक्कड़-अति महत्वाकांक्षी-भोगप्रधान चिन्तन वाले होंगे, वह राष्ट्र या समाज कभी उन्नति नहीं कर सकता, फल-फूल नहीं सकता-यह श्रीकृष्ण की स्पष्ट घोषणा है। न ही ऐसे समाज से कुशल शासक-संगठन कर्ता, नेता निकल पायेंगे, न इस जगत में कभी शान्ति मिल पाएगी-चाहे उद्योग कितने ही बढ़ जाएँ, कितना ही आधुनिकीकरण यंत्रीकरण क्यों न हो जाए। त्यागमय जीवन में प्रतिष्ठित हों, भोग में नहीं-आज की स्थिति की कितनी सुन्दर समीक्षा है इस शोक में। बार-बार एक ही बात भगवान् कह रहे हैं कि बाह्य सुखों में शान्ति नहीं-वहाँ तो भोगवादी अतृप्ति भरी तृष्णा है- बैचेनी है।<sup>16</sup>

आज सारा मानव समाज "स्ट्रेस" नामक महाव्याधि से पीड़ित है, जिसे देखिए वही देखने में स्वस्थ पर अंदर से रीता, खोखला एवं तनावग्रस्त । एक अविज्ञात भय हमारे सबके साथ जुड़ा है। चाहे भौतिक जगत में कितनी ही सफलताएँ मिल गयी हों। आत्मिक जगत सूखा मरुस्थल बन गया है। कारण अयज्ञीय भाव से किये गये कर्म ही हैं।<sup>17</sup>

एक जागरूक कर्मठ, कभी जगद्गुरु रहा भारतवर्ष सांस्कृतिक दृष्टि से आज भी पराधीन है, भ्रष्टों में भी भ्रष्टतम है- इसकी कार्यकुशलता को मानो जंग लग गयी है। किस कारण यज्ञमय जीवन की उपेक्षा से। यदि किसी समाज का, राष्ट्र का पुर्ननिर्माण होगा तो जीवन जीने के तरीके को बदल कर- जीवन को भोगमय से बदलकर त्याग की जीवन में प्रतिष्ठा करने से। जीवन में यज्ञ अर्थात् परमार्थ के लिये किये गये सत्कर्मों की उपेक्षा से- एकाकी स्वार्थी जिंदगी जीने की रीति नीति से।<sup>18</sup>

श्रीमद्भगवद्गीता ही आज की युवाशक्ति को भावी पीढ़ी को एक संकेत देती है कि यदि यह जीवन सुख के साथ शान्ति संतोषमय बनाना है तो जीवन में यज्ञ को स्थान दो, नहीं तो जन्म जन्मांतरों तक अतृप्ति एवं वासना के बंधन ढोने पड़ेंगे। "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" (ईशावास्योपनिषद्) की उक्ति अनुसार जीवन में त्याग की प्रतिष्ठा से ही मोक्ष या परम शांति मिलेगी। पश्चिमोन्मुखी मध्यम वर्ग एवं कम्प्यूटर युग में जी रही आज की पीढ़ी यदि सही अर्थों में भोग का आनन्द चाहती है, मानसिक शांति चाहती है तो उसे अपनी जीवन शैली आमूल चूल बदलनी होगी, यही संदेश गीता का हमें यहाँ मिलता है।<sup>19</sup>

भगवान् कहते हैं कि कर्म कामना से मुक्त हों, इसके लिए उन्हें 'यज्ञार्थाय' किया जाना चाहिए। अगला श्लोक इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुए कहता है-



यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (३/९)

यज्ञ के निमित्त किए जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बँधता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य-कर्म कर।<sup>21</sup>

**स्वामी विवेकानन्द के अनुसार (गीता का कर्मयोग) -** "वैज्ञानिक प्रणाली से किया गया एक कर्मानुष्ठान है। कर्मों का उद्देश्य है-मन के भीतर जो अन्तर्निहित शक्ति है- उसे प्रगट करना अर्थात् जीवात्मा का जागरण करना। जो कुछ करो- जो कुछ खाओ-जो कुछ हवन करो-जो कुछ तप करो - जो कुछ दो सभी मुझ भगवान् में अर्पण कर शान्तभाव से स्थित होकर रहो।"<sup>22</sup>

स्वामी जी जिस भाव की अभिव्यक्ति कर रहे हैं- उसी का बोध श्रीकृष्ण अपने शिष्य अर्जुन को कराते हुए उसकी मुक्ति का पथ प्रशस्त कर रहे हैं। वे कहते हैं कि सभी साधनों या यज्ञों को कर्मज मान-कर्म से जन्मा मान पर यह भी समझ कि ये सभी एक भगवान् की विशाल शक्ति से जन्मे हैं, उसी के द्वारा निर्दिष्ट हैं। उस भगवान् तत्व को तत्व से जान कर भलीभाँति समझकर स्वयं को समर्पित कर यज्ञीय भाव से यदि हर कर्म किया जाएगा तो लोभ-मोह-अहं के भवबंधनों से हमेशा के लिये जीवन्मुक्ति मिल जाएगी। (एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे) <sup>23</sup>

श्रीमद्भगवद्गीता में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ केवल अग्नि में दी जाने वाली आहुति तक सीमित नहीं है, बल्कि इसे **निःस्वार्थ कर्म** और **परमात्मा को समर्पण** के व्यापक रूप में परिभाषित किया गया है।

आचार्य श्रीराम शर्मा जी के " योग वशिष्ठ " में प्रसंग आया जिसमें विश्वामित्र ने कहा - हे मुनीश्वरों ! श्रीराम चंद्र जी ने सर्वज्ञ ज्ञान पूर्ण रूप से जान लिया है । इसके विपरीत जो लोग भोगों के चिंतन से, प्रभावित होकर आज्ञानजनीत बंधन में पूरी तरह जकड़ जाते हैं ।अर्थात् विषयों- भोगों में होने वाले सुदृढ़ वासना को ही बंधन बताते है। जिसकी दृष्टि राग आदि दोषों से रहित है, वही तत्वग्य,सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान यज्ञमय ईश्वर है।<sup>24</sup>

आत्मस्वरूप यज्ञ - इसके अनुसार गीताकार का आशय है- परमात्मा में ज्ञान द्वारा एकीभाव से स्थित होकर ब्रह्मरूप अग्नि में यजन करना। अर्थात् "ब्रह्माग्नि " में जीवात्मा हविस्य के रूप में आहुति देना ही **ज्ञानयज्ञ** कहलाता है।<sup>25</sup>



अश्वमेध यज्ञमयी जीवन है इसके अनुसार ब्रह्मरूपी अग्नि में जीवात्मा की आहुति देकर जीवात्मा और परमात्मा की एकत्व भावना से होम संपादित करना श्रेष्ठतम पुरुषार्थ यज्ञ , एक **आध्यात्मिक जनप्रक्रिया** है।<sup>26</sup>

यज्ञों में भी श्रेष्ठतम एवं महायज्ञ कहा जाने वाला वह कर्म यज्ञ है, जो व्यक्ति को ब्राह्मणत्व के पद पर स्थापित कर देता, ब्राह्मणत्व अर्थात् आज के तथाकथित मनुवाद के नाम पर आलोचना करने वाले जाति-वर्ण वाला ब्राह्मण नहीं- ज्ञानयज्ञ का संपादन करने वाला - देवत्व प्रधान जैसे रीति-नीति वाला जीवन जीने वाला।<sup>27</sup>

कठोपनिषद् में एक प्रसंग यमराज और नचिकेता के मध्य जिसमें अग्निविद्या का वर्णन आता है जिसके अनुसार “इस अग्नि या अध्यात्मिक यज्ञ का तीन बार अनुष्ठान करने वाला पुरुष ऋक्, यजुः, साम-तीनों वेदों से संबंध जोड़कर तीनों वेदों के तत्त्व-रहस्य के गुणों में निष्णात होकर, निष्कामभाव से यज्ञ, दान और तप रूप तीनों कर्मों को करता हुआ जन्म मृत्यु के बंधनों से तर जाता है। तथा अग्निदेव को भलीभांति जानकर निष्कामभाव से चयन करके उस अनन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है।”<sup>28</sup>

प्रज्ञानोपनिषद् के अनुसार - “हे प्राण ! तू ही देवताओं के लिए हवि पहुंचाने वाला उत्तम अग्नि स्वरूप अध्यात्म विद्या है। पितरों के लिए पहली स्वधा है। अथर्वा, अंगिरस आदि ऋषियों के द्वारा आचरित अनुभूत सत्य भी तू ही है।”<sup>29</sup> ( प्रज्ञानोपनिषद् श्लोक - 8 )

“हे प्राण ! तू सब प्रकार के तेज (शक्तियों) से सम्पन्न तीनों लोकों का स्वामी इन्द्र है। तू ही प्रलयकाल में सबका संहार करने वाला रुद्र है और तू ही सबकी भली भांति यथा योग्य रक्षा करने वाला है। तू ही अन्तरिक्ष में विचरने वाला वायु है तथा तू ही अग्नि, चन्द्र, तारे आदि समस्त ज्योतिर्गणों का स्वामी सूर्य है।”<sup>30</sup> ( प्रज्ञानोपनिषद् श्लोक - 9 )

तृतीय अध्याय में कहा गया था कि यज्ञ की भावना से किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता। वहाँ यज्ञ को अग्निहोत्र के अर्थों में प्रयुक्त न करके व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। गीता की परिभाषा में प्रत्येक कर्म जब निष्कामता से किया जाता है तब वह 'यज्ञ' कहलाता है। संसार में नई लहर चलानेवाले, नवीन विचारों को देनेवाले महापुरुष पुराने शब्दों में नया अर्थ भर देते हैं, श्रीकृष्ण ने 'यज्ञ' शब्द के साथ वैसा ही किया है। उन्होंने भिन्न-भिन्न कामनाओं के लिए किये जानेवाले यज्ञों को निष्कामता के रंग में ढाल दिया है। इसी दिशा में अपने भावों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं- कुछ योगी देवताओं



को लक्ष्य में रखकर यज्ञ करते हैं, कोई दूसरे योगी ब्रह्माग्नि में यज्ञ द्वारा ही यज्ञ करते हैं (गीता 3/25) <sup>31</sup>

#### 4. आध्यात्मिक यज्ञीय ज्ञान -

आध्यात्मिक यज्ञीय ज्ञान का अर्थ है विद्या, बुद्धिमत्ता, विवेक, दूरदर्शिता, सद्भावना, उदारता और न्यायप्रियता जैसे गुणों का समन्वित रूप। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आध्यात्मिक यज्ञ के अन्तर्गत देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, आत्मयज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणयज्ञ, संयमयज्ञ, आहारयज्ञ आदि की चर्चा करते हुये यह बताया गया है कि आत्मकल्याण व प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए जो भी सत्साधन कार्य में लाए जाते हैं, वे सब यज्ञरूपी ही हैं।<sup>32</sup>

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहवति ॥ श्रोत्रादीर्नीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुहवति। शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुहवति ॥ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुहवति ज्ञानदीपिते ॥ द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ अपाने जुहति प्राणं प्राणेषुपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुहवति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ (गीता 4/25-30)

- (१) **देवयज्ञ** - सूर्य, अग्नि आदि देवताओं से शक्ति को बढ़ाना। अपनी इंद्रियों का संबंध अनुभव करते हुए आंतरिक संबंध स्थापित कर शक्तियों का अभिवर्धन होना।
- (२) **ब्रह्मयज्ञ** - ज्ञानरूपी ब्रह्माग्नि में अपने कर्म-बंधनों को होमना।
- (३) **संयमयज्ञ**-संयम की तपरूपी अग्नि में इंद्रियों की वासना को जलाना। या मुक्त करना।
- (४) **इंद्रिययज्ञ**- इंद्रिय शक्ति को मर्यादित सीमा में प्रयुक्त करके उनकी शक्ति का सदुपयोग करना।
- (५) **आत्मयज्ञ** - आत्मारूपी अग्नि में प्राणों की गतिविधि का उत्सर्ग करना।
- (६) **द्रव्ययज्ञ** - अपनी भौतिक संपदा को सत्कर्मों में लगाना।
- (७) **तपयज्ञ** - शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता, तितिक्षा एवं द्वंद्वों को सहन करने की शक्ति का उपार्जन।
- (८) **योगयज्ञ**- योगाभ्यास द्वारा आत्मविकास।
- (९) **स्वाध्याय यज्ञ**- सद्ज्ञान रूपी ग्रंथों द्वारा, सत्संग द्वारा एवं चिंतन-मनन द्वारा आत्मज्ञान का संपादन।
- (१०) **ज्ञानयज्ञ**-सद्ज्ञान की अभिवृद्धि।
- (११) **प्राणयज्ञ** - अपान में प्राण का लय, प्राण में अपान का समर्पण, इनकी गतियों का संतुलन करने के लिए कुंभक का अभ्यास।



(१२) **आहार यज्ञ**-भोजन की पवित्रता एवं उत्कृष्टता का साधन।

इन सब यज्ञ-साधनों से मनुष्य के सब पाप नष्ट हो जाते हैं और ब्रह्म की प्राप्ति की दिशा में उसके कदम तेजी से बढ़ते जाते हैं। यह आध्यात्मिक यज्ञ अंतिम लक्ष्य है।<sup>33</sup>

**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञानयज्ञः परंतप ।**

**सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ४/३३**

अर्थात्-"हे परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं।"

भगवान् का कहना है कि सारे यज्ञों में ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् का स्पष्ट मत है कि सारे कर्म इसी ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। अज्ञान से मुक्ति ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है, सारे कर्मों का मर्म है। जीवन भर अज्ञान से चिपटे रहे- बंधन्मुक्त हो नहीं पाए, तो यह जीवन निष्प्रयोजन ही रहा। देवयज्ञ-नृयज्ञ-दान यज्ञ आदि से स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति मात्र हो सकती है परंतु आत्मज्ञान बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इसीलिये **देवयज्ञ-द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ** बताया गया है।<sup>34</sup>

यज्ञ वह ज्ञान है जिसमें सब कुछ परि-समाप्त होता है। उसके प्राप्त होने पर "तू सब भूतों को अशेषतः आत्मा के अन्दर और तब मेरे अन्दर देखेगा।" क्योंकि आत्मा वही एक, अक्षर, सर्व-गत, सर्वाधार, स्वतःसिद्ध सद्वस्तु या ब्रह्म है जो हमारे मनोमय पुरुष के पीछे छिपा हुआ है और जिसमें चेतना अहंभाव से मुक्त होने पर विशालता को प्राप्त होती है और तब हम जीवों को उसी एक सत् के अन्दर भूतरूप में देख पाते हैं।<sup>35</sup>(यज्ञ-रहस्य,)गीता-प्रबन्ध

कामजित यज्ञार्थ कर्मों के करने से हमें ज्ञान होता है और आत्मा अपने-आपको पा लेती है; आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान में स्थित होकर कर्म करने से हम मुक्त हो जाते और भागवत सत्ता की एकता, शान्ति और आनन्द में प्रवेश करते हैं।<sup>36</sup>(यज्ञ-रहस्य,)गीता-प्रबन्ध

स्थूलयज्ञ इसकी प्रथम सीढ़ी है। जैसे साकार मूर्तिपूजा से अभ्यास बढ़ाकर निराकार ब्रह्म की उपासना की जाती है, वैसे ही अग्निहोत्र द्वारा यज्ञ-भावनाओं का विकास कर अपने आप को ब्रह्मार्पण करते हुए स्वयं यज्ञरूप बनना होता है। यही यज्ञ का परम रहस्य है। यह परमार्थप्रियता, परस्पर सहयोग, सद्भावना की वृत्ति, संयम, त्याग, उदारता, धर्मप्रियता, आस्तिकता एवं ईश्वर-उपासना की भावना ही यज्ञ का वास्तविक रहस्य है।<sup>37</sup>(यज्ञ-रहस्य,)गीता-प्रबन्ध



**उपसंहार** - उपरोक्त यज्ञों के विस्तार को समझकर योगेश्वर की मूलशिक्षा को समझा जाय। भगवान् कहते हैं कि विषयों का हवन इन्द्रियों में कीजिये, इन्द्रियों का मन में तथा मन का चित्त में। चित्त का हवन अहं में कीजिये तथा अहं का हवन आत्मा में कीजिये। शुद्ध निरंजन-शुद्ध बुद्धि आत्मा में इस प्रकार हवन होते ही अशुद्धियाँ जलने लगती हैं, ऊर्ध्वगमन होने लगता है तथा अनंत से तादात्म्य की परिस्थितियाँ बन जाती हैं।<sup>38</sup>

भगवान् कहते हैं (तीसवें शोक में) कि इस प्रकार यज्ञ का मर्म समझ लेने वाले सभी साधक यज्ञों द्वारा पाप का नाश कर देने वाले और यज्ञों के मर्म को जानने वाले होते हैं। (यज्ञ क्षपित कल्मषाः) । हम सभी यज्ञ करते तो हैं पर यज्ञ को मानते नहीं हैं। मानते हैं तो समझते नहीं। बहिरंग की क्रिया को ही सब कुछ मानकर चलते हैं तो हाथ कुछ नहीं लगता। यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान समझे बिना, उनके ज्ञानयज्ञ वाले मर्म को समझे बिना किया गया यजन तो मात्र अग्निहोत्र की बहिरंग प्रधान प्रक्रिया है, जबकि **यज्ञ हर श्वास में जीवन की हर क्रिया में- हर विचार में संपादित किया जाने वाला एक दिव्यकर्म हैं।**<sup>39</sup>

परम पूज्य गुरुदेव का जीवन यज्ञमय रहा। वे इसमें जीवन भर एक समिधा बनकर जले एवं तिलतिलकर अपने कण-कण की आहुति देकर एक दिव्यकर्मी को कैसा होना चाहिए, उसका शिक्षण दे गए। हम उनके जीवन से यही शिक्षण लें, स्वयं के जीवन को भी यज्ञमय बना सकें, यही प्रेरणा सतत हमें मिलती रहनी चाहिए। शांतिकुञ्ज के "उद्गाताओं" द्वारा एक बड़ा सुंदर गीत गाया जाता है-"**हे प्रभु! जीवन हमारा यज्ञमय कर दीजिए।**"<sup>40</sup> यदि इस गीत के मर्म को जीवन में उतारा जा सके तो सभी का जीवन सही अर्थों में दिव्य बन सकता है। यज्ञीय वृत्ति अर्थात् निम्नगामी प्रकृति की क्रियाओं को अपने अधीन करके उस दिव्य आनन्द का रसास्वादन किया जाय जो यज्ञ से-आत्मबलिदान से, श्रेष्ठ उद्देश्यों पर न्योछावर होने से प्राप्त होता है।

#### **सन्दर्भ ग्रन्थः**

1. वेदालंकार जगन्नाथ"गीता-प्रबंध, प्रकाशक: श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-२, प्रथम संस्करण, वर्ष 1969, पृष्ठ -121
2. ब्रह्मवर्चस, यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान, वांग्मय-25, अखण्ड ज्योति संस्थान, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2022,
3. शर्मा भगवती देवी, देव संस्कृति दिग्विजय अंक, अखण्ड-ज्योति मासिक पत्रिका, नवम्बर-संस्करण, अखण्ड ज्योति संस्थान, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 1992
4. ब्रह्मवर्चस, यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान, वांग्मय-25, अखण्ड ज्योति संस्थान, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2022, पृ.सं. 26
5. ब्रह्मवर्चस, यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान, वांग्मय-25, अखण्ड ज्योति संस्थान, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2022 पृ.सं. 26
6. ब्रह्मवर्चस, यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान, वांग्मय-25, अखण्ड ज्योति संस्थान, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2022 पृ.सं. 26
7. ब्रह्मवर्चस, यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान, वांग्मय-25, अखण्ड ज्योति संस्थान, गायत्री तपोभूमि मथुरा, 2022 पृ.सं. 26
8. स्वामी रामसुखदास, गीता-प्रबोधनी टीका, अध्याय 4, संस्करण -49, गीताप्रेस गोरखपुर, उत्तरप्रदेश, संवत् 2079, पृ.सं.



